प्रवचन नं. २७ गाथा-२४ से २५ गुरुवार, दिनाङ्क १४-०४-१९६६
चैत्र कृष्ण ९, वीर संवत् २४९२

२४वाँ कलश चलता है। क्या कहते हैं ? कल चल गया है। अन्तिम शब्द है। ३१ पृष्ठ है।

दोहा - परिषहादि अनुभव विना, आतम-ध्यान प्रताप।
शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप।।२४।।

सम्पूर्ण श्लोक का संग्रह करके उपसंहार किया है। पहले सब आ गया है। क्या ? —कि धर्मात्मा को **आतम-ध्यान प्रताप।** आत्मा आनन्द शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसके अन्तर आनन्द के ध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है। आत्मध्यान। निज आत्मा में अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, ऐसे अनन्त चतुष्टय शक्तिरूप अनादि से स्थित हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य। ऐसे आत्मा में प्रथम आत्मा को ध्येय करके, अपने स्वभाव को ध्येय करके अनुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का आना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है।

कहते हैं **आतम-ध्यान प्रताप।** आत्मध्यान के प्रताप से धर्मात्मा को **परिषहादि अनुभव विना,..** बाहर के परीषह और उपसर्ग का अनुभव नहीं होता। अनुभव है न ? बाहर के परीषह का ख्याल भी नहीं। मैं अतीन्द्रिय आनन्दमय हूँ। अतीन्द्रिय आनन्द सहजानन्द ध्येय है। निर्जरा का अधिकार है न ? कर्म की निर्जरा कहना, वह तो व्यवहारनय है, ऐसा अर्थ आ गया है। अपना शुद्धचैतन्य आनन्दकन्द एक समय में परमात्मा शुद्धस्वरूप अपना है। उसमें अन्तर में ध्येय दृष्टि लगाकर, जो अपनी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, वेदन, स्वाद आना, उस स्वाद के समक्ष बाहर की प्रतिकूलता का धर्मात्मा को अनुभव नहीं होता। समझ में आया ? तुम तो गुजराती भी समझते हो। समझ में आया ?

परिषहादि.. परीषहादि आदि शब्द से उपसर्ग आदि। क्षुधा, तृषा आदि शरीर में होते हैं। अपना आत्मा शरीर से, कर्म से और पुण्य-पाप के विकल्प से भी भिन्न है। क्योंकि पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव जो हैं, वे तो आस्रवतत्त्व हैं तथा शरीर और कर्म है, वह अजीवतत्त्व है और आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसे अन्तर में एकाग्र ध्येय बनाकर ध्यान करना, इसका नाम आत्मा का अनुभव कहते हैं। यह अनुभव है, वही मोक्ष का मार्ग है। इस अनुभव में **परिषहादि अनुभव विना,..** बाहर का अनुभव नहीं है। शरीर में बाहर में परीषह पड़े, उसका ख्याल अन्तर आनन्द के समक्ष, अतीन्द्रिय स्वाद के समक्ष बाहर की प्रतिकूलता-अनुकूलता का उसे स्मरण होता ही नहीं। ऐसा अन्तर में आनन्द आता है, उसे यहाँ निर्जरा और संवर कहते हैं। देखो!

शीघ्र ससंवर निर्जरा,... समझ में आया? अपने आत्मा का शुद्ध सम्यग्दर्शन पहले हुआ। चौथे गुणस्थान में (हुआ)। समझ में आया? पहले सब आ गया है, हों! उसका उपसंहार है। **शीघ्र ससंवर निर्जरा,...** संवर और निर्जरा, अपने शुभ-अशुभ विकल्प से नहीं होती। देह की क्रिया तो जड़ की, शरीर की पर्याय है, अजीवतत्त्व है। उससे आत्मा को संवर-निर्जरा, पुण्य-पाप नहीं होते और अपनी पर्याय में शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, वे शुभपरिणाम हैं, वह भी संवर और निर्जरा नहीं है, वह तो आस्रवतत्त्व है। उससे रहित भगवान आत्मा एक समय में अखण्डानन्द शुद्धचैतन्य प्रभु का अन्तरध्यान करने से अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का नाम यहाँ अनुभव कहा जाता है। उस अनुभव के समक्ष शीघ्र संवर-निर्जरा होते हैं। अनुभव होने से संवर-निर्जरा होती है। सेठी!

मुमुक्षु : शीघ्र अर्थात्...

पूज्य गुरुदेवश्री : शीघ्र अर्थात् शीघ्र। अपने आत्मा में ध्येय करके जितना आनन्द का अनुभव हुआ, अपना ध्येय बनाकर, शुभ-अशुभ का ध्येय छोड़कर, पर का लक्ष्य छोड़कर, अपने आनन्द के अनुभव में ध्येय बनाया। पहले सम्यग्दर्शन में तो ऐसा हो गया है। सम्यग्दृष्टि को आनन्द का अनुभव तो पहले चौथे गुणस्थान से हो गया है। समझ में आया? जब से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब से आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुए बिना कभी सम्यग्दर्शन तीन काल में नहीं होता। कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के

पश्चात् आनन्द के अनुभव में आगे बढ़कर बाहर के परीषह आदि का अनुभव किये बिना। **शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप।** आप शब्द क्यों लिया? पाठ में है। कर्म की निर्जरा, उसके कारण से होती है। कर्म के रजकण स्वयं को खिराना नहीं पड़ता। वह जड़तत्त्व है, उसके कारण से कर्म खिर जाता है। अशुद्धपर्याय का नाश होना, वह भी उसके कारण से होता है।

अपने शुद्धस्वरूप को ध्येय करके अन्तर में ध्येय लगाया, उसका नाम संवर और निर्जरा है। समझ में आया? एकदेश है न? सम्बन्ध छूट जाना, उसे निर्जरा कहते हैं, वह निर्जरा करना, ऐसा नहीं। क्योंकि निर्जरातत्त्व के तीन अर्थ हैं—(१) रजकण का खिर जाना, (२) अशुद्धता का नाश होना और (३) शुद्धता के आनन्द की उत्पत्ति होना। समझ में आया? उसे भगवान निर्जरा कहते हैं। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव निर्जरा के तीन प्रकार कहते हैं। एक तो आत्मा अपने आनन्दस्वरूप में लीन होता है। अतीन्द्रिय आनन्द, जैसा सिद्ध का आनन्द है, ऐसे अपने आनन्द में लवलीन हो जाते हैं, तब जो शुद्धि की वृद्धि होती है, उसे यथार्थ निर्जरा कहते हैं। उस समय अशुद्धता का नाश होता है, वह अशुद्धनिश्चयनय से निर्जरा कही जाती है। उस समय कर्म उसके कारण से-स्वयं के कारण से खिर जाता है, उसे असद्भूतव्यवहारनय से निर्जरा कही जाती है। सेठी!

यह कहते हैं, **शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप।** कर्म अपने (कर्म के) कारण से खिर जाते हैं। अपने आनन्द का अनुभव करते-करते (खिर जाते हैं)। अब, २५ (गाथा में) लेते हैं, देखो!

उपरलिखित अर्थ को बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो -

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा।।२५।।

अर्थ - 'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ' इस तरह जुदा-जुदा दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बन्ध कैसा?

विशदार्थ – लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (जुदा-जुदा) दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जैसे बाँस की खपच्चियों से जलादिक के सम्बन्ध से बननेवाली चटाई का मैं कर्ता हूँ – बनानेवाला हूँ। यहाँ बनानेवाला 'मैं' जुदा हूँ और बननेवाली 'चटाई' जुदी है। तभी उनमें 'कर्तृकर्म' नाम का सम्बन्ध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बन्ध द्विष्ठ (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृत में वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है, इसको दिखलाते हैं।

'ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं, ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता च' – जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है-ध्यान का कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है – 'ध्यायते येन तद् ध्यानं।'

'जो ध्यैञ् चिन्तायाम्' धातु का व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा? जिससे कि 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परन्तु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में किसी भी प्रकार कर्म का सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका? इसलिये सिद्धयोगी कहो या गतयोगी अथवा अयोगकेवली कहो, उनमें कर्मों की निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारनय से ही है, परमार्थ से नहीं।।२५।।

दोहा – 'कटका मैं कर्तार हूँ' यह है द्विष्ठ सम्बन्ध।
आप हि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध।।२५।।

गाथा - २५ पर प्रवचन

उपरलिखित अर्थ को बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो – पूज्यपादस्वामी महासमर्थ तत्त्वज्ञानी हुए। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' बनायी है। उन्होंने

यह इष्टोपदेश (बनाया है) । हित उपदेश–हितकर उपदेश, उसे कहते हैं कि जिसमें अपने आनन्द की हित दशा उत्पन्न हो और जिसमें पुण्य–पाप का बन्ध न हो, ऐसे उपदेश को इष्ट–उपदेश / हितकर उपदेश / यथार्थ उपदेश कहा जाता है। दूसरे उपदेश को यथार्थ नहीं परन्तु विपरीत उपदेश कहा जाता है। यह कहते हैं, देखो!

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा।।२५।।

इसका अर्थ। पूज्यपादस्वामी दृष्टान्त देते हैं। **'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ'**.. जरा सूक्ष्म बात है। **'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ' इस तरह जुदा–जुदा दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है।** उसे व्यवहार कहते हैं। मैं चटाई का बनानेवाला हूँ, चटाई भिन्न वस्तु और बनानेवाला भिन्न। ऐसा आत्मा में नहीं है।

जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बन्ध कैसा? आत्मा को सम्बन्ध होता है। वहाँ कर्म का सम्बन्ध कैसा? समझ में आया? **आत्मा ही ध्यान**.. चटाई का बनानेवाला दूसरा और चटाई दूसरी। यहाँ ध्यान करनेवाला दूसरा और ध्याता दूसरा, ऐसा नहीं है। समझ में आया? ध्याता भी आत्मा और ध्येय भी आत्मा है। शुभ–अशुभराग / विकल्प उठता है, पुण्य–पाप के शुभ–अशुभभाव वे धर्मी का ध्येय नहीं हैं। धर्मी का वह ध्येय ही नहीं है। वह तो अनादि का अज्ञानी ने मिथ्यादृष्टि में ध्येय बाँधा है। धर्मी का ध्येय अपना आत्मा है। तो कहते हैं कि आत्मा ही ध्यान और आत्मा ही ध्यान करनेयोग्य तथा ध्येय हो जाता है। सुनो।

कल अर्थ चला था। आज २५ वीं गाथा है। भगवान आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्दकन्द अनाकुल शान्तरस का पिण्ड आत्मा है। उसमें अपनी वर्तमान निर्मल विकाररहित दशा द्वारा ध्यान करनेवाला भी आत्मा और ध्येय भी आत्मा तथा ध्याता भी आत्मा है। ध्याता, ध्यान और ध्येय में भेद नहीं पड़ता। ध्याता, ध्येय और ध्यान—ऐसे भेद पड़ना, वह भी विकल्प है, वह भी राग है, पुण्यबन्ध का कारण है; वह भी संवर–निर्जरा नहीं है। समझ में आया? आचार्य महाराज यह कहते हैं, देखो!

जहाँ आत्मा ही ध्यान.. भगवान आत्मा ध्यान करनेयोग्य और भगवान.. निर्विकल्प

ध्यान की बात है। वही धर्म और संवर-निर्जरा है। **आत्मा ही ध्यान ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बन्ध कैसा?** वहाँ दो-सम्बन्ध कैसा? जैसे चटाई बनानेवाला और चटाई, ऐसे दो का सम्बन्ध है, वैसे यहाँ दो नहीं है। समझ में आया? आहाहा! जब तक शुभाशुभराग के विकल्प उत्पन्न होते हैं और उसमें ध्येय लगाकर दृष्टि पड़ी है, तब तक तो अनादि का मिथ्यादृष्टि है, वही है। समझ में आया? जब इसकी दृष्टि आत्मा को ध्येय बनाकर अपना अखण्डानन्द प्रभु एक समय में पूर्ण शान्तरस का पिण्ड, अनाकुल सच्चिदानन्दस्वरूप, एकरूप है-ऐसे अन्तर्दृष्टि लगाकर अपने आत्मा को ध्येय बनाकर, अपने ध्यान में ध्याता वह आत्मा है, उसमें दो का सम्बन्ध कहाँ आया? दूसरे का-राग का सम्बन्ध आया तो ध्यान नहीं, वह तो बन्ध का कारण है। समझ में आया? देखो! इसमें लिखा है। शब्द का शब्दार्थ किया। अब विशदार्थ।

विशदार्थ – लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है,.. तरीका, तरीका को क्या कहते हैं? नियम। अपने को हिन्दी बहुत नहीं आती। लोकप्रसिद्ध नियम तो ऐसा है कि **कि किसी तरह भिन्न (जुदा-जुदा) दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है।** दो पदार्थ भिन्न हों, उनमें सम्बन्ध होता है। **जैसे बाँस की खपच्चियों से जलादिक के सम्बन्ध से बननेवाली चटाई का मैं कर्ता हूँ – बनानेवाला हूँ।** बाँस की... निकलती है न? पानी में से लाकर बनाते हैं न? **यहाँ बनानेवाला 'मैं' जुदा हूँ और बननेवाली 'चटाई' जुदी है। तभी उनमें 'कर्तृकर्म' नाम का सम्बन्ध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बन्ध द्विष्ठ (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृत में वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है, इसको दिखलाते हैं।** आत्मा के संवर, निर्जरा में ध्याता, ध्यान और ध्येय में बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है (अर्थात्) भिन्नता का सम्बन्ध नहीं है, अभिन्नता का सम्बन्ध है। आहाहा! कहो, सेठ! आज तुम्हारी हिन्दी चलती है। देखो, क्यों कहते हैं?

बनानेवाला और बननेवाली, ये दो वस्तुएँ हुईं। यहाँ दो नहीं है। जबकि संवर-निर्जरा जितने प्रमाण में होता है, उतने प्रमाण में दो नहीं है। जितना लक्ष्य बाहर में जाए, उतने शुभ या अशुभपरिणाम होते हैं, तो शुभाशुभ का बन्ध होता है। जितना अन्तर आत्मा

में '**ध्याते येन, ध्यायति वा यस्तद ध्यानं**' देखो! '**ध्याते येन, ध्यायति वा यस्तद ध्यानं**' जो ध्यान करनेयोग्य दशा स्वयं ध्यान। '**ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता च**' ध्यान करने में करण एक और कर्ता एक अपना आत्मा ही है। संवर-निर्जरा के साधन में करण भी आत्मा, कर्ता भी आत्मा, ध्यान भी अपनी पर्याय। देखो!

जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। जरा सूक्ष्म बात है। इसे इष्ट उपदेश कहते हैं। जिस उपदेश में भेद से और पुण्य से अपने में धर्म-संवर होता है, ऐसा मानना, कहना, वह भगवान के उपदेश से (विरुद्ध) अहितकर उपदेश है, तत्त्व से विरुद्ध उपदेश है। यह अविरुद्ध उपदेश इष्ट-उपदेश है।

भगवान पूज्यपादस्वामी, कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् हुए हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य तो संवत् ४९ में हुए। पश्चात् समन्तभद्राचार्य महासन्त आत्मज्ञानी, ध्यानी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले। क्षण-क्षण में छठा-सातवाँ, छठा-सातवाँ (गुणस्थान में झूलते थे)। क्षण में एक अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार (आवे)। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव सातवें में (करते हैं) और छठे में जरा आ जाते हैं तो प्रमत्त का विकल्प आता है। वह कितना? पौन सेकेण्ड के अन्दर। पौन सेकेण्ड से अन्दर के भाग में छठवाँ गुणस्थान होता है। पश्चात् तुरन्त सातवाँ गुणस्थान आ जाता है, ऐसे मुनि को भावलिंगी-सम्यग्दर्शन, अनुभव हुआ, तदुपरान्त छठा-सातवाँ गुणस्थान आया तो उसमें हजारों बार अन्तर्मुहूर्त में आते हैं-जाते हैं, उन्होंने यह पुस्तक (ग्रन्थ) बनायी है। समझ में आया?

यह कहते हैं, सुन भाई! हित की बात-इष्ट उपदेश। **करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं।** कहो, समझ में आया? अपना आत्मा.. शरीर, वाणी, मन, वह तो अजीव है। कर्म भी अजीवतत्त्व है। सात तत्त्व है न? सात। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। यह अजीव शरीर, कर्म, वाणी, वह तो अजीवतत्त्व है। उस अजीव की पर्याय अजीव; अजीव के गुण अजीव; अजीव का द्रव्य अजीव। उसमें आत्मा जरा भी नहीं है और अपनी पर्याय में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग-वासना, काम-क्रोध के भाव होते हैं, वह पाप आस्रवतत्त्व है, वह पाप आस्रवतत्त्व है और जितने दया, दान, भक्ति, व्रत,

पूजा, तप, यात्रा का विकल्प उत्पन्न होता है, उतना पुण्यरूपी आस्रवतत्त्व है। सात तत्त्व समझने पड़ेंगे या नहीं? भाई! इस पुण्य और पापतत्त्व से भिन्न ज्ञायकतत्त्व आत्मा है। सात होते हैं या नहीं?

आत्मा, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, अजीव। शरीर, कर्म, वाणी तो अजीव तत्त्व है। अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में हैं, अपने में नहीं। उसकी पर्याय से अपने में लाभ होता ही नहीं। अपनी पर्याय में जितने शुभ और अशुभभाव होते हैं, उतना पुण्य-पाप का बन्ध होता है। उससे धर्म नहीं होता। संवर-निर्जरा किस प्रकार होते हैं, यह बात चलती है। आस्रव, पुण्य-पाप के परिणाम से बन्ध होता है। अतः पुण्य-पाप आस्रव है, बन्ध है, अजीव है और संवर, निर्जरा, मोक्ष तीन रहे और आत्मा रहा।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा किसे कहते हैं? अखण्ड आनन्दकन्द शुद्ध चिदानन्दमूर्ति की अन्तर्दृष्टि पहले हुई तो ध्यान का करण भी आत्मा है। समझ में आया? साधन आत्मा। भाई! आहाहा! लोग कहते हैं कि कषाय की मन्दता धर्म का साधन है। नहीं; यहाँ इष्टोपदेश (इनकार करता है)। है या नहीं? भाई! देखो! ऐ.. सेठ! यह बात पहले आ गयी है, चौबीस में आ गयी है। पच्चीस में उसका स्पष्टीकरण करते हैं। कर्ता, करण क्या?

आत्मा का धर्म संवर-निर्जरा है, उसमें कर्ता कौन? साधन कौन? ध्यान करनेवाला कौन? ध्यान कौन? समझ में आया? पूज्यपादस्वामी महासन्त, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले महामुनि! सर्वज्ञ परमात्मा स्वीकारे ऐसे। वे फरमाते हैं कि उसे हम इष्टोपदेश कहते हैं (कि) आत्मा अपने स्वरूप का साधन बनता है। राग नहीं, व्यवहार नहीं, निमित्त नहीं। आहाहा! समझ में आया? पुस्तक है? भाई! उसमें है, देखो!

ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महाराज संवत् ४९ में हुए। वे तो सीमन्धर भगवान के पास गये थे। समझ में आया? महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान विराजते हैं। साक्षात् केवलज्ञानी तीर्थंकरदेव के पास वे गये थे। आठ दिन रहे थे। आत्मा का ध्यान, ज्ञान, अनुभव तो हुआ था परन्तु वहाँ जाकर बहुत अनुभव करके-स्पष्ट करके आये और फिर यह शास्त्र बनाये। पौन्नूर हिल। मद्रास से अस्सी मील दूर इस ओर वन्देवास है। वन्देवास से पाँच मील दूर पौन्नूर हिल है। वहाँ

हम गये थे। पौन्नूर हिल में वे रहते थे, ध्यान करते थे, वहाँ से भगवान के पास गये थे। उनके पास अन्तर में आनन्द की लब्धि थी, पुण्य की प्रकृति उस प्रकार की थी। वहाँ गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे, वहाँ से आकर समयसार, प्रवचनसार आदि बनाये हैं। ये पूज्यपादस्वामी उनके बाद हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् (पूज्यपादस्वामी) हुए हैं।

यह कहते हैं कि इष्ट-उपदेश किसे कहना? हितकर, प्रिय, सत्य उपदेश किसे कहना? कि संवर-निर्जरा में अपना आत्मा ही साधन होता है, उसका नाम इष्ट-उपदेश-हित उपदेश है। सेठी! **ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं।** कहो, समझ में आया? ओहो! भाई! प्रभु! आत्मा तो पूरा शुद्ध आनन्दकन्द स्वरूप है। अकेला अनाकुल आनन्दस्वरूप आत्मा है। जैसा सिद्ध का आनन्द है, वैसा ही आत्मा है और पुण्य-पाप के जितने विकल्प व्रत-अव्रत के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे सब बन्ध का कारण, आस्रव है। उनसे रहित भगवान आत्मा अपना साधन बनाकर, स्वभाव का साधन बनाकर, उसमें दूसरा करण नहीं है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप अत्यन्त भिन्न है। जैसे श्रीफल में गोला भिन्न है। श्रीफल कहते हैं न? नारियल। नारियल में जैसे सफेद गोला होता है न? श्वेत, सफेद। वह भिन्न है, छाल भिन्न है, कांचली भिन्न है और कांचली की ओर लाल छाल होती है न? लाल। खोपरापाक करे, तब छोलते हैं न? क्या कहते हैं? छिलका। वह लालाई भिन्न है और अन्दर का सफेद गोला भिन्न है। इसी प्रकार यह देह तो बाहर का छिलका है। बाहर में होता है न? क्या कहलाता है छाल.. छाल। यह छाल है और आठ कर्म के रजकण वे कांचली हैं। पुण्य और पाप—शुभ और अशुभभाव जो करते हैं, वे आस्रव-लालिमा है। आस्रवतत्त्व है। कांचली और छाल भिन्न तत्त्व है। यह शरीर और कर्म अजीवतत्त्व है। तथा पुण्य और पाप दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के विकल्प उठते हैं, वे सब कांचली की ओर की ललाई है, वह आत्मा नहीं है। उससे आत्मा को बिल्कुल लाभ नहीं है। समझ में आया? इसका नाम भगवान पूज्यपादस्वामी हित-उपदेश कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं, **जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो..** किसके द्वारा हो? भाई! प्रभु! तेरी चीज़ तो अन्दर गोला भिन्न है। जैसे

श्रीफल में सफेदाई और मिठास का सफेद गोला भिन्न है। इसी प्रकार भगवान! तेरी चीज़ कर्म से भिन्न है, पुण्य-पाप के, दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प से भी भिन्न है। ऐसी वस्तु में आनन्द और शुद्धता पड़ी है। श्वेत अर्थात् शुद्धता और आनन्द अर्थात् मिठास। ऐसा अपना स्वभाव ध्यान करने में करण है, वह स्वभाविक साधन है। आहाहा! समझ में आया? उसका नाम संवर-निर्जरा है। वह स्वभाव साधन है।

आत्मा में करण नाम का गुण अनादि से है। आत्मा में अनन्त गुण है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द है। ऐसे आत्मा में अनादि-अनन्त षट्कारक गुण पड़े हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण-ऐसे छह गुण आत्मा में अनादि-अनन्त पड़े हैं। शुद्ध है। यह करण नाम का गुण-स्वभाव अन्दर है, शुद्ध है। राग और विकल्प से हटकर अपना स्वभाव शुद्धस्वभाव का साधन करने में जो हो, उसे ध्यान कहते हैं, भाई! राग का लक्ष्य करके ध्यान करते हैं, वह ध्यान ही नहीं है। उसका नाम संवर, निर्जरा है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन जगत को।

अनन्त काल हुआ, इसने सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, यह कभी सुना नहीं। समझ में आया? अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया। अनन्त बार। परन्तु आत्मा क्या? सम्यग्दर्शन क्या? और सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? यह कभी इसने लक्ष्य में लिया ही नहीं। ऐसे का ऐसा अनन्त काल जिन्दगी गँवायी। समझ में आया? आहाहा! यह कहते हैं, भगवान! तेरे स्वरूप में तो शान्ति और आनन्द भरे हैं न! वही तेरा साधन है। ध्यान में वह साधन है। आहाहा! शरीर की क्रिया तो जड़ है, वह तो जड़ पर्याय है। हिलती-चलती है, वह जड़-पर्याय है, आत्मा की नहीं, आत्मा नहीं करता। यह हलन-चलन आत्मा तीन काल में नहीं करता। यह जड़ की पर्याय है और शुभाशुभभाव होते हैं, उनका कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि, मूढ़, अज्ञानी है। उसे संवर-निर्जरा नहीं है। कहते हैं कि वह साधन नहीं तो साधन क्या है? संवर-निर्जरा का साधन है क्या?

कहते हैं, भगवान! सुन तो सही, प्रभु! तेरी वस्तु में तो अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं न? जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान (आदि)। अपने आत्मप्रसिद्धि में आ गया है। व्याख्यान सब आ गये हैं। बहुत स्पष्ट आया है। भगवान आत्मा में एक परमेश्वर शक्ति पड़ी है। क्या कहा?

आत्मा में एक परमेश्वर शक्ति पड़ी है - प्रभुता शक्ति है। जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व। सातवीं शक्ति है। सैंतालीस शक्तियाँ हैं। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से सैंतालीस शक्तियाँ भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने वर्णन की है। कितना वर्णन कर सके ?

कहते हैं कि अन्दर में प्रभुता नाम का एक गुण अनादि-अनन्त पड़ा है और उसके साथ करण नाम का गुण अन्दर पड़ा है। आत्मा में साधन नाम की शक्ति पड़ी है। वह अपने स्वभाव का साधन बनाकर ध्यान करता है। आहाहा ! समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो ! **ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं।** उसे ध्यान कहा जाता है। कहने में आता है, उसे क्या कहते हैं ? कहने में आता है। समझ में आया ? आहाहा ! आचार्य ! वे तो मुनि जो हुए, आत्मज्ञानी, ध्यानी, छठे-सातवें गुणस्थान में, सबका कथन तो एक ही था। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' दूसरा कोई पन्थ है नहीं। महासन्त आत्मज्ञानी, ध्यानी, अमृत का अनुभव (था)। क्षण-क्षण में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का, चैतन्य का पूर पड़ा है। अतीन्द्रिय आनन्द का आत्मा सागर भरा है। जब सम्यग्दर्शन होता है, तब आत्मा का अनुभव होता है। पश्चात् मुनि होते हैं, तब अतीन्द्रिय आनन्द की अन्दर में रेलम-छेल होती है।

ऐसा कहते हैं कि हमारा ध्यान, जिसे संवर-निर्जरा कहते हैं, जिसे धर्मात्मा का धर्म कहते हैं, वह किस प्रकार होता है ? कि अपने साधन से होता है। समझ में आया ? भगवान की स्तुति एक ओर रह गयी, भगवान साक्षात् एक ओर रह गये, वह भी साधन नहीं। उन भगवान के प्रति भक्ति का शुभराग है, वह भी साधन नहीं, वह तो आस्रव है। समझ में आया ? आहाहा ! हो, विकल्प होता है, पुण्य होता है, अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आता है, वह संवर, निर्जरा नहीं; धर्म नहीं। धर्म तो अपने साधन को ध्यान और धर्म कहते हैं। कितने ही कहते हैं न ? ध्यान में आना.. लेना। ज्ञानार्णव में आता है न ? वह तो विकल्प की जाति है। ऐसे करना, ऐसे करना क्या ? ऐसे होता है। यह वस्तु भगवान... इसका नाम संवर-निर्जरा है। ऐसे विकल्प करे और भगवान ऐसे हैं, और फिर चिन्तवन करे, कमल चिन्तवन करे, वह सब विकल्प है। वह तो पुण्यास्रव है; वह संवर-निर्जरा नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं, ध्यान करने में-अपने में एकाग्र होने में करण हो, जो अपना साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। **तथा जो ध्याता है-ध्यान का कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं,..** लो! अभेद कहा न? ध्यान करनेवाला आत्मा, ध्यान की पर्याय भी आत्मा। निर्मल, निर्विकारी आनन्द का अनुभव और ध्यान का साधन भी आत्मा। ओहोहो! समझ में आया? यह क्रिया और करण / साधन है। ध्यान की क्रिया का करण भी स्वयं, साधन भी स्वयं, क्रिया भी स्वयं और ध्याता भी स्वयं।

यह सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त, वीतराग जिनेश्वर के अतिरिक्त अन्यमत में वेदान्त आदि में बात करते हैं (कि) आत्मा ऐसा-वह सब कल्पना की बात है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक प्रत्यक्ष देखे हैं, उनकी दिव्यध्वनि में ऐसा आया, ऐसा ही उपदेश सन्त कर रहे हैं। उस उपदेश को सत्य उपदेश कहते हैं। जिस उपदेश में ऐसा आवे कि शुभभाव करते-करते कल्याण हो जाएगा, शुभभाव संवर-निर्जरा है, वह भगवान का उपदेश नहीं है। समझ में आया? वह परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागदेव का उपदेश नहीं है। वीतरागदेव का उपदेश वीतरागभाव से चलता है, राग से नहीं। राग से लाभ होगा, शुभभाव से लाभ होगा, यह उपदेश वीतरागदेव का नहीं है। वीतरागदेव के विरोधी का यह उपदेश है।

कहते हैं, भगवान! सुन तो सही! तुझे कुछ क्रिया करनी है या नहीं? क्या करनी है क्रिया? देखो! '**ध्यातिक्रियां प्रति करणं**' ध्यान की क्रिया है न? वह ध्यान की क्रिया होती है न अन्दर में? पुण्य-पाप के विकल्प, वे तो विभावक्रिया हैं। शरीर, वाणी की क्रिया, वह तो जड़ क्रिया है। अपने में अन्दर आत्मा चिदानन्द आनन्दकन्द को पकड़कर अनुभव करके ध्यान की क्रिया जो निर्मल अनुभूति है, उस क्रिया में कर्ता आत्मा है और ध्यान भी आत्मा है तथा कर्ता भी आत्मा है, साधन भी आत्मा है। ओहोहो! षट्कारक है न? षट्कारक हैं। कर्ता भी आत्मा, करण भी आत्मा, अपनी शुद्धता प्रगट होकर आनन्द को देनेवाला भी आत्मा, लेनेवाला भी आत्मा-सम्प्रदान। कर्ता, कर्म—कर्म अर्थात् कार्य। अपना शुद्धस्वरूप, पुण्य-पाप के विकल्प से पार प्रभु, ऐसे आत्मा को अन्दर अनुभव करके जो शुद्ध कार्य होता है-आनन्द का कार्य होता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता

है, वह आत्मा का काम है। वह आत्मा का कार्य है। पुण्य-पाप के परिणाम, वह आत्मा का कार्य नहीं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि ध्याता, ध्यान को करनेवाला है, उसे भी ध्यान कहते हैं। **जैसा कि कहा भी है-'ध्यायते येन तद् ध्यानं।'** है न? **धातु का व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,..** आहाहा! परमात्मा अर्थात्? दूसरे परमात्मा नहीं, हों! निज परमस्वरूप। परम आत्मा। निज परमस्वरूप आत्मा अर्थात् स्वरूप परम अर्थात् अपना परम निजस्वरूप। पुण्य-पाप के विकल्प उदयभाव हैं, बन्धभाव हैं; यह संवर-निर्जरा नहीं है और एक समय की पर्याय है, उसमें से नयी पर्याय नहीं आती। परमस्वरूप, एक समय की पर्याय है, वह परमस्वरूप नहीं है। परमस्वरूप, एक समय की पर्याय के पीछे शुद्ध ध्रुव अन्दर अनन्त आनन्द का कन्द है, उसका नाम यहाँ आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण कहा गया है। आहाहा!

जो निर्मल पर्याय, परमस्वरूप निज परमात्मा के साथ मिल गयी.. समझ में आया? **एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,..** भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञानसूर्य। ज्ञानसूर्य। चैतन्यस्वरूप आत्मा अकेला ध्यान में होता है। इसका नाम संवर-निर्जरा है। आहाहा! यह तो इष्टोपदेश चलता है। सेठी! **जब आत्मा का परमात्मा के साथ..** भगवान अपनी निर्मल निज पर्याय, वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वीतरागी अविकारी, हों! उससे परमात्मा अर्थात् परमस्वरूप भगवान आत्मा, त्रिकाली ध्रुव को ध्येय बनाकर जो ध्यान होता है, उसके एकीकरण के समय वर्तमान निर्मल आनन्द की पर्याय में पूर्णानन्द के साथ एकीकरण होता है, तब **आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,..** ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नहीं रहता। अकेला सूर्य-चैतन्यसूर्य। भगवान चैतन्यसूर्य ऐसे अनुभव में ध्याता-ध्यान और ध्येय, ऐसे तीन का भेद भी नहीं रहता, उस दशा को संवर और निर्जरा कहते हैं। आहाहा! इसे कठिन पड़ता है, अनन्त काल से इसने किया नहीं, सुना नहीं। यथार्थ बात (सुनी नहीं)।

समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-श्रुत, परिचित, अनुभूता। अनन्त

काल से तो शुभराग करना और शुभ का फल भोगना, बस! यह बात इसने की है और सुनी है। अनन्त काल से। परन्तु इस राग और विकल्प से भिन्न भगवान आत्मा निर्विकल्प चिदानन्द मूर्ति प्रभु, वीतरागी बिम्ब, जिसमें आत्मा अकेला आनन्दकन्द और शुद्ध परमात्मस्वरूप ही है। उसमें एकाकार होना, यह बात इसने कभी एक सेकेण्ड भी सुनी नहीं। ओहोहो! समयसार में श्रुतपरिचित आता है न?

सुदपरिचिदाणुभूदासव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

भगवान आत्मा, शुभाशुभराग से भिन्न और अपने शुद्धस्वरूप से एकीकरण, इसका नाम एकीकरण। वहाँ कहा है, वही बात यहाँ कहते हैं। भगवान आत्मा **सुदपरिचिदाणु-भूदासव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।** काम अर्थात् राग—इच्छा, किसी भी इच्छा का करना और इच्छा का भोगना, यह बात अनादि से अज्ञानी ने सुनी है। इच्छा राग है, शुभराग है। उससे भिन्न अपना आत्मा, राग से भिन्न अपना एकत्व। **एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।** राग और विकल्प, दया, दान, व्रत के विकल्प से भिन्न भगवान आत्मा है, यह बात इसने एक सेकेण्ड भी अनन्त काल में सुनी नहीं। समझ में आया?... कहाँ से हो? सुनी नहीं, परिचय किया नहीं। दो-तीन बोल हैं। **सुदपरिचिदाणुभूदा..** सुनी नहीं, परिचित-अभ्यास में ली नहीं, अनुभव तो हुआ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, जब आत्मा... पर के साथ सम्बन्ध ही नहीं, **तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा?** आहाहा! क्या कहते हैं? देखो! ...निर्जरा के साथ... कहते हैं, ध्यान रखो! बहुत गूढ़ बात है। आत्मा अपना ध्यान, अपने स्वरूप के ध्येय में जितना ध्यान हो, उस समय कर्म के उदय का लक्ष्य भी नहीं, सम्बन्ध ही नहीं। सम्बन्ध नहीं तो उसकी निर्जरा कैसे कहते हैं? भगवान आत्मा अपने निजानन्द भगवानस्वरूप में दृष्टि करके लीन है, तब तो कर्म के उदय का सम्बन्ध ही नहीं है, सम्बन्ध तो यहाँ लग गया है। आत्मा के साथ एकीकरण हुआ है तो उस समय में तो कर्म के निमित्त का सम्बन्ध ही नहीं है। जितना स्वभाव में एकीकरण हुआ है, उतनी संवर-निर्जरा है। उस संवर-निर्जरा में कर्म की निर्जरा की... उस समय में कर्म

के निमित्त का सम्बन्ध तो है ही नहीं। सम्बन्ध नहीं तो सम्बन्ध छूटा किस प्रकार कहलाये ? आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है । कल अपने आ गया है । यह उसका श्लोक है । यही कहते हैं न ? **उपरलिखित अर्थ को बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो..** उसे दृढ़ करते हैं ।

क्या कहते हैं भगवान ! भगवान ! तू तो परमात्मा है, हों ! प्रभु ! तू इनकार नहीं करना कि ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है । प्रभु ! तू तो अन्दर परमात्मा है । विकल्प उठता है, वह विकार, दोष है, उसका लक्ष्य छोड़ दे । यह शरीर तो मिट्टी-धूल है । आठ कर्म तो अजीव है और तेरा आत्मा, जब आत्मा के साथ लक्ष्य लगा दिया, उसका अर्थ क्या हुआ ? संवर, निर्जरा कब होती है ? सब ओर का लक्ष्य, ध्येय छोड़कर पुण्य का विकल्प, उदय का लक्ष्य और बाहर नोकर्म, तीनों का लक्ष्य छोड़कर । नोकर्म अर्थात् भगवान साक्षात् हों तो भी लक्ष्य छोड़कर; और उस ओर के विकल्प का लक्ष्य छोड़कर । समझ में आया ? यह भावकर्म । द्रव्यकर्म अन्दर वह द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म । नोकर्म भगवान सर्वज्ञ साक्षात् हों तो भी सामने सम्बन्ध करके लक्ष्य करना, वह शुभराग है, उसे छोड़कर... और जो विकल्प आया, वह भावकर्म है । उसका लक्ष्य छोड़कर । विकल्प में तो कर्म के निमित्त का सम्बन्ध था । उसका भी लक्ष्य छोड़कर । नोकर्म भगवान आदि, द्रव्यकर्म कर्म का उदय, भावकर्म विकल्प का लक्ष्य छोड़कर यहाँ लक्ष्य दिया तो कहते हैं कि उस समय में कर्म के उदय का तो लक्ष्य ही नहीं है, तो सम्बन्ध कहाँ से आया ? सेठ ! समझ में आता है या नहीं ? ऐसा नहीं चलता, समझना पड़ेगा । हाँ, ऐसा नहीं चलता । आहाहा ! देखो ! आचार्यों ने क्या कहा ? अन्तर की-दृष्टि की बात की खबर नहीं, अभी तो सुना नहीं कि क्या चीज़ है ।

कहते हैं, अहो ! **संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा ?** भगवान ! हम तो तुझसे कहते हैं, प्रभु ! परमात्मा अपना निजस्वरूप, उसमें जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान शान्ति से लक्ष्य लगा दिया, अपने आत्मा की निर्मल वीतरागी पर्याय से परमस्वरूप में एकाकार, एकीकरण हुआ तो साधन भी स्वयं, ध्याता भी स्वयं और कर्ता भी स्वयं हुआ । उसमें कर्म के उदय का सम्बन्ध रहा कहाँ ? उस संवर-निर्जरा के काल में क्या कर्म के उदय का सम्बन्ध था ? उसका सम्बन्ध

था तो इस ओर सम्बन्ध नहीं रहता। आहाहा! भगवान! तेरा स्वरूप सम्यग्दर्शन में भी अपना ध्येय आत्मा है। वहाँ भी कर्म के निमित्त का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अपनी सच्चिदानन्द मूर्ति आनन्द में जहाँ ध्यान आया, तो कहते हैं, वहाँ कर्म का—मिथ्यात्व का उदय है, उसका सम्बन्ध कहाँ रहा? वहाँ मिथ्यात्व की निर्जरा हुई, ऐसा कैसे कहलाया? सम्बन्ध ही नहीं तो निर्जरा कहाँ से आयी? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! पूज्यपादस्वामी ने भी खींचा है अन्दर का।

भगवान! तेरी चीज़ में जहाँ लक्ष्य आया, सम्यग्दर्शन में भी अपने अनुभव में ज्ञानघन में एकीकरण हुआ है तो वहाँ कर्म में दर्शनमोह का उदय का सम्बन्ध था और दर्शनमोह की निर्जरा हुई, ऐसा कहाँ से आया? सम्बन्ध था? संयोग था तो वियोग हुआ? संयोग है नहीं तो निर्जरा हुई कैसे कहना? आहाहा! बहुत सूक्ष्म! यह वीतरागी तत्त्व है भाई! समझ में आया? ओहोहो!

संयोगादिक.. संयोग आदि कोई भी सम्बन्ध। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध लो। कहाँ रहा? कोई कहे कि आत्मा की पर्याय में संवर-निर्जरा हुई, तब कर्म का संयोग था। संयोग था तो संवर-निर्जरा किस प्रकार हुई? संवर-निर्जरा के काल में तो अपना ध्येय आत्मा साधन है। संवर-निर्जरा निर्मल वीतरागी पर्याय—मोक्ष का मार्ग उत्पन्न हो। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र निर्विकारी वीतरागी पर्याय है। वीतरागी पर्याय किसके आश्रय से उत्पन्न होती है? किसके ध्येय से (उत्पन्न होती है)? उस समय ध्येय तो द्रव्य का है। भगवान परमात्मस्वरूप का ध्येय है, वहाँ एकीकरण हुआ है। वहाँ निमित्त पर लक्ष्य नहीं है। कर्म का सम्बन्ध था और कर्म की निर्जरा हुई। संयोग होवे तो वियोग कहते हैं। संयोग ही नहीं तो उसका वियोग कहाँ से हुआ? आहाहा! तुम नहीं थे। यह अधिकार बहुत आ गया। आहाहा! गजब, भाई!

भगवान! कहते हैं कि जिसका संयोग हो, उसका वियोग कहा जाता है कि इस यह संयोग हुआ तो इसका वियोग कहने में आता है परन्तु भगवान! तेरी चीज़ ही जहाँ परमानन्द की ज्योति, अखण्डानन्द को जहाँ दृष्टि में अन्तर में ध्येय बनाया, तो उस ध्येय में निमित्त कर्म के उदय का सम्बन्ध ही नहीं है। वह कर्म की निर्जरा हुई, ऐसा कैसे कहने

में आता है ? **'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे।** किस प्रकार, समझे ? **जिससे कि 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे।** जिससे कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु **'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे।** किस प्रकार होता है ? परमार्थ से नहीं। क्या कहा, समझ में आया ?

आचार्य महाराज निर्जरातत्त्व को सिद्ध करना चाहते हैं। भावनिर्जरा। तो भावनिर्जरा उसे होती है कि जिसने अपने ध्येय में आनन्दकन्द में दृष्टि लगायी है। कहते हैं, अध्यात्मयोग से आत्मध्यान से निजस्वभाव के आश्रय से ध्यान हुआ, उस अध्यात्मयोग से कर्म की निर्जरा हुई, वह परमार्थ से किस प्रकार कहने में आता है ? आहा! समझ में आया ? देखो! जरा सूक्ष्म बात है, हों! सूक्ष्म क्या है ? परन्तु तुम तो जयपुर रहते हो। यह बात सूक्ष्म आ गयी है। सबेरे बहुत चली थी। २४ वाँ कलश चला न ? उसका आधार देकर २५ में आचार्य महाराज लेते हैं।

भाई! आहाहा! क्या कहते हैं ? कोई भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्ष का मार्ग है, उस पर्याय में लक्ष्य तो द्रव्य है तो ही होता है। शुभाशुभभाव करण नहीं, निमित्त करण नहीं, कर्म का मन्दपना निमित्त नहीं, कषाय की मन्दता का निमित्त नहीं। तब जब मोक्षमार्ग की पर्याय ध्येय से अन्दर होती है, उसमें वर्तमान कर्म का सम्बन्ध तो रहा नहीं और अध्यात्मयोग से परमार्थ से कर्म की निर्जरा हो गयी, ऐसा किस प्रकार कहा जाता है ? व्यवहार से कहा जाता है। पूर्व का कर्म था, वह वर्तमान में छूट गया, सम्बन्ध नहीं किया तो छूट गया, तो कर्म की निर्जरा हुई, ऐसा कहने में आता है। सम्बन्ध ही संयोग ही न हुआ तो वियोग कहाँ से हुआ। आहाहा! सूक्ष्म बात करते हैं न ? भाई!

वास्तव में तो यह बात है। लोगों की भ्रमणा है कि निर्जरा कुछ उपवास करें तो हो, अमुक करें तो हो। धूल करें तो हो। सब झूठी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। पृथ्वीचन्दजी!... आहाहा! भगवान! यहाँ तो भगवान आत्मा को भगवान ही कहकर बुलाते हैं। एक बार सुन तो सही, प्रभु! आहाहा! संवर के एक अंश की उत्पत्ति और भावनिर्जरा की एक भाव उत्पत्ति में कर्म, नोकर्म भावकर्म का लक्ष्य है ही नहीं। अपना निज भगवान आत्मा,

परमानन्द मूर्ति को अन्तरध्येय बनाकर एकीकरण हुआ, तभी संवर-निर्जरा की पर्याय अपने ध्येय से, अपने साधन से, अपने साध्य से उत्पन्न होती है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे वचन, दिगम्बर सन्त मुनि भावलिंगी हैं, इसके बिना ऐसे वचन नहीं निकलते। समझ में आया? श्वेताम्बर में तो ऐसी बात कहीं है ही नहीं। निर्जरा क्या? वह कुछ नहीं है। यह तो अनादि सनातन सर्वज्ञ परमात्मा, त्रिलोकनाथ वीतरागदेव महाविदेहक्षेत्र में एक मार्ग चलता है, ऐसा एक ही मार्ग परम्परा से चलता था। देखो! पूज्यपादस्वामी महा जंगलवासी-वनवासी आनन्दकन्द में झूलते थे। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव (करते थे)। समझ में आया?

कहते हैं कि निर्जरा और संवर। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि जहाँ पर का सम्बन्ध ही नहीं। उसका अर्थ कि जहाँ पर का लक्ष्य नहीं, उसका अर्थ कि अपने लक्ष्य में जहाँ पड़ा है, वहाँ पर का सम्बन्ध नहीं है तो सम्बन्ध छूटा किस प्रकार कहलाये? आहाहा! भाई! यह परमार्थ से नहीं। परमार्थ से निर्जरा अध्यात्मयोग से हुई, यह बात नहीं है। अपनी शुद्धि की वृद्धि होती है, बस! इतना। परन्तु कर्म की निर्जरा होती है, ऐसा कहना व्यवहारनय का कथन है। विशेष आयेगा.... (**श्रोताः** प्रमाण वचन गुरुदेव!)